आत्मकेन्द्रित चिन्तन की मूल भ्रान्तियाँ

आदमी जब कभी सोचता है, या सोचने की कोशिश करता है, तो अपने को एक ऐसे सोचने के संसार से घिरा पाता है जिसमें कुछ सवाल सहज रूप से उठाये जाते रहे हैं। यह सोचने का संसार हज़ारों सालों के सोचने से बना है और इसमें सैंकड़ों आदमियों ने मिलकर कुछ बनाने की, समझने की, कोशिश की है। अक्सर इसी 'संसार' के सन्दर्भ में लोग सोचते हैं। अगर हिन्दुस्तान में पैदा हुए हैं तो उन्हें दो बातें तो ज़रूर ही विरासत में मिलती हैं। एक यह कि आदमी सुख की तलाश करता है और दु:ख से दूर भागता है। दूसरी, उसे स्थायी सुख और शान्ति कभी प्राप्त नहीं होती। तीसरी, जीवन का चरम लक्ष्य, परम पुरुषार्थ, स्थायी सुख और शान्ति को प्राप्त करना है–ऐसा सुख, ऐसी शान्ति जिसमें दु:ख की सम्भावना भी न हो। आत्यन्तिक दु:ख-निवृत्ति और नित्य, सहज, चिरन्तन 'आनन्द' की अवस्था को उसके परम पुरुषार्थ के रूप में देखा गया है।

इससे बड़ी 'बचकानी' बात क्या हो सकती है? शायद बच्चे भी ऐसा नहीं सोचते कि हमेशा, चौबीसों घण्टे, लड्डू खाते रहें, या वह चीज़ जो उन्हें बहुत पसन्द है, जैसे–आईसक्रीम या कुछ और खाते रहें। दु:ख से घबराना वीरों का काम नहीं होता, और सुख की तलाश तो हर जानवर करता है! आदमी और जानवर में फर्क ही यह है कि वह न दु:ख से घबराता है और न सिर्फ सुख को ही चाहता है। वह कुछ और चाहता है। और यह 'और' क्या है, इसी का जवाब ढूँढ़ने की कोशिश दर्शन करता है, या कम से कम उसे करनी चाहिए।

सुख की बात ही लें तो सहज रूप में यह सवाल उठता है कि आखिर सुख है क्या? जैसे ही आदमी सोचना शुरू करता है तो उसकी यह समझ में नहीं आता कि इस मामूली सी बात को किस तरह समझे, कैसे परिभाषित करे। यह ठीक है कि अच्छी, मन्द, ठण्ड़ी बयार सबको अच्छी लगती है। यह भी ठीक है कि सुबह का सूरज, रात का चाँद, खिलते हुए फूल सबको अच्छे ही लगते हैं और उनको देखकर जो अनुभूति होती है वह साधारणत: सुख की अनुभूति नहीं कही जाती। ऐसे ही अच्छा खाना, स्वादिष्ट भोजन, रंग–बिरंगी चीज़ें, सतरंगी इन्द्रधनुष--ऐसी हज़ारों मिसालें आसानी से दी जा सकती हैं। पर थोड़ा सोचने पर इनमें एक साफ

फर्क दिखाई देने लगेगा। खाना पकाना एक कला है। हर आदमी, या कहें हर स्त्री या लड़की अच्छा खाना नहीं बना सकती। हरेक के घर में पकाने की खासियत होती है। कोई चीज़ खास अच्छी बनती है और उसको किसी दूसरे से बनाना सीखना पड़ता है, जो यह बताता है कि ऐसे करो तो अच्छा बनेगा। और रंगों की बात लें तो वह भी कोई आसान बात नहीं है। इन्द्रधनुष की बात छोड़ भी दें तो कम से कम आदमी की बनाई दुनियाँ के रंग बड़ी मुश्किल से बनते हैं। रंग कच्चे होते हैं, पक्के होते हैं। कपड़े रंगे जाते हैं, रंगरेज़ या रंगरेज़िन जानती है कि कैसे रंगा जाये। और रंगों की मिलावट या उनका मैचिंग तो कुछ और ही बात है। हरेक रंग हर दूसरे रंग के साथ मेल नहीं खाता। रंगों में मेल–बेमेलपन होता है। एक तरफ रंगों की कैमिस्ट्री (रासायनिकी) खुद काफी मुश्किल है और हज़ारों सालों की मेहनत के बाद आदमी ने पायी है, और उसके लिए पता नहीं कितनी तकलीफें उसने उठायी हैं। दूसरी तरफ कहीं रंगों की दुनिया तस्वीरों में बदलती है, चित्रकला को जन्म देती है और ऐसे–ऐसे अजीब पेन्टरों की कहानी अपने साथ मिलाती है जिनकी एक–एक तस्वीर लाखों रुपयों में बिकती है। शरीर पर रंग–बिरंगे कपड़े और दीवारों पर तस्वीरें दोनों में एक समानता है और दोनों के पीछे छिपी हैं परेशानियाँ और एक लम्बा इतिहास जो सहज रूप में नज़र नहीं आता, पर वह कम से कम उस आदमी की 'देन' नहीं हो सकता जो सिर्फ सुख की तलाश करता है।

कहानी लम्बी और पेचीदा है, पर हर इन्द्रिय के साथ वह जुड़ी है और उसने एक अपनी अलग नयी दुनिया बनाई है। लेकिन इस दुनिया के पीछे जो एक सतत् साधना है, जो खोज है, जो गवेषणा है, जो जिज्ञासा है, जो पुरुषार्थ है उसकी ओर दार्शनिकों का ध्यान शायद ही कभी भूलकर जाता है। ऐसा क्यों? इसके कई उत्तर हो सकते हैं पर कम से कम यह उत्तर तो आसानी से दिया जा सकता है कि पता नहीं क्यों दर्शन के इतिहास में शुरू से ही यह प्रवृत्ति रही है कि जो कुछ इन्द्रियों से ग्रहण होता है, जो कुछ शरीर से मिलता है उसमें कोई विशेष सार्थकता नहीं है। अगर जीवन का रहस्य समझना है तो उसको बाहर नहीं पाया जा सकता। आँख खोलने से वह नहीं मिलेगा, आँख बन्द करने से शायद मिल जाये। अन्दर की ओर देखो, 'आत्मानं विद्धि', 'नो दाईसेल्फ' ये नारे पुराने हैं और इसीलिए शायद दर्शन की किताबों में दुनिया की बात कम होती है और 'बातों की बात' ज्यादा। हाँ, एक 'बात की बात' करते दार्शनिक नहीं अघाते। वह बात कर्म की है, धर्म की है, पाप–पुण्य की है और ज्ञान–अज्ञान की है।

सारा जगत् उनके लिए ज्ञान का विषय है और सारा पुरुषार्थ, कर्म का, इसी प्रकार मनुष्य स्वयं, जगत् की ही भाँति, ज्ञान का विषय है और उस कर्म का भी जो उसमें परिवर्तन लाने की चेष्टा करता है। पर यह सब होते हुए भी संसार की जो अनेक विषय-वस्तुएँ हैं उनके विशिष्ट ज्ञान में दर्शन को कोई रुचि नहीं है,

और न ही अपने विषय में जो 'विषय-रूप' ज्ञान है, उसके बारे में उसे कोई दिलचस्पी है। वह तो केवल इसी से सन्तुष्ट है कि वह ज्ञाता है, और सब ज्ञेय है, या वह विषयी है और सब विषय-मात्र है। वही बात कर्म के बारे में भी है। पर उसकी समझ में यह बिल्कुल नहीं आता कि वह कर्म के द्वारा जो 'सत्' है उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन कैसे ला सकता है? या जो है ही नहीं उसको सत्-रूप प्रदान कैसे कर सकता है? यही बात वह अपने बारे में भी सोचता है। जो मैं हूँ, वह तो सदैव सत्-रूप में हूँ ही, उसमें कोई भी तब्दीली कैसे हो सकती है? और जो भी जाना जा सकता है वह तो 'विषय' ही होगा। इसलिए मैं जो विषय-रूप हूँ ही नहीं, उसे कभी भी कैसे जाना जा सकता है? या 'जानने' का कोई अन्य अर्थ है? और अगर कोई ऐसा अर्थ है तो उस अर्थ में जिसको भी हम 'जानना' कहते हैं, उसे वास्तव में 'जानना' कहा ही नहीं जा सकता।

इस तरह से सोचने-देखने पर सारा ज्ञान-व्यापार, कर्म-व्यापार, और वह भाव-जगत् जिसमें 'हम' रहते हैं, वह या तो असत् ठहरता है या 'सत्' होते हुए भी निरर्थक ठहरता है।

यही नहीं, कर्म के द्वारा जिस संसार की रचना होती है उस संसार की ओर यह 'दृष्टि' कुछ देख ही नहीं पाती, उसको समझने की बात तो और है। दूसरी ओर, उसको यह समझ में ही नहीं आता कि कोई अन्य भी किसी 'विषयी' को विषय-रूप में देख सकता है। आत्म या चेतना-केन्द्रित विचार यह कभी सोच ही नहीं पाता कि दूसरे भी 'आत्म' हैं, वे भी 'चेतन' हैं और उनमें से कुछ 'आत्म चेतन' हैं। वह तो यह स्वत:सिद्ध मानकर चलता है कि जो विषयी है उसको कभी भी विषय-रूप में नहीं देखा जा सकता। पर उसे अन्य लोगों को 'विषय-रूप' में देखने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती।

इस तरह मनुष्य के कर्म के द्वारा रचित संसार की ओर कभी उसका ध्यान नहीं जाता, और संसार को वह सदैव जड़ जगत् के रूप में समझने की ही चेष्टा करता है उसी तरह वह प्राणि मात्र को, जिसमें मनुष्य भी शामिल है, भुला कर ही अपना चिन्तन करता है। वैसे 'साधना' की बात बहुत की गई है, पर उसके लिए साधना केवल एक ही प्रकार की होती है, केवल वह जिसका लक्ष्य मोक्ष है या निर्वाण है, या कैवल्य है, यानि ऐसा लक्ष्य जिसमें न संसार है, न जगत् है, न कोई अन्य है, न उसके प्रति उत्तरदायित्व है, न धर्म है, और न ही कोई पुरुषार्थ।

यह 'आदर्श' केवल उन लोगों का हो सकता है जो शरीर से, मन से, बुद्धि से और अपनी सब इन्द्रियों से 'बूढ़े' हो चुके हैं, जीवन से थक चुके हैं, और ऐसे आदर्श उसी संस्कृति में जन्म ले सकते हैं जो संस्कृति अपने से ही विमुख हो चुकी है।

उसका ध्यान न तो कभी इतिहास की ओर जाता है, न मानव-कर्म के उन अनेक आयामों की ओर जिनमें निहित आदर्शों को चरितार्थ करने की साधना में वह निरन्तर लगा रहता है, और न ही वह मनुष्य के उस कृतित्व की ओर ध्यान देता है जिसमें वह दूसरे मनुष्यों और प्राणियों के साथ मिलकर एक संसार की रचना करता है, ऐसा संसार जिसमें सदैव अधिक अच्छा बनने की, अधिक सुन्दर बनने की अनन्त सम्भावनाएँ निहित रहती हैं। वह संसार कोई प्रकृति का संसार नहीं है, जड़ जगत् का संसार नहीं है, जो स्वचालित है, स्वकेन्द्रित है, जिसमें अच्छे-बुरे का सवाल उठता ही नहीं, जहाँ सुन्दर- असुन्दर का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यह संसार सदैव हर रोज़, हर क्षण मनुष्य की कोशिश से ही बरकरार रहता है। अगर एक क्षण भी नज़र चूके, या कोई भी ग़लती हो जाये, या ध्यान बँट जाये तो फिर वह ढ़ह जाता है,गिर जाता है, नष्ट हो जाता है। उसको बनाये रखने के लिए अनेकानेक मनुष्यों के सतत् प्रयास की ज़रूरत रहती है और उन्हीं का प्रयास उनमें कुछ नयापन लाता है, कुछ नयी चीज़ जोड़ता है। इस संसार की ओर ध्यान शायद ही किसी ने दिया हो। यह संसार स्वत: परिचालित नहीं है, वह अपने आप न तो प्रवाहमान है न अपने आप बनता है। उसको बनाना पड़ता है और वह किसी एक आदमी के बनाये नहीं बनता। और जब बनता भी है तो बहुत अधिक देर तक वैसा बना नहीं रहता, क्योंकि उसको वैसा बनाये रखने के लिए भी सतत् प्रयास की आवश्यकता होती है।

और अगर हम यह सोचें कि जो बनाते हैं वे थकते भी हैं, बीमार भी होते हैं और 'मरते' भी हैं, तो हमें इस संसार के 'होने' पर आश्चर्य ही नहीं होगा, यह भी लगेगा कि यह सब आख़िर कैसे हो सकता है, और अगर होता भी है तो इतने युगों तक कैसे चल सकता है?

हज़ारों साल की, सैकड़ों पीढ़ियों की, कोशिशों से यह जो दुनिया बनी है, जिसको बनाये रखने में, सुधारने में, आगे बढ़ाने में हर जीवित व्यक्ति का उत्तरदायित्व है, उसकी ओर परम्परागत चिन्तन में 'ऋण' प्रत्यय के माध्यम से हमारा ध्यान दिलाया गया है। मनुष्य 'ऋणी' है, उन सब लोगों का जिनके अथक परिश्रम और मेहनत से उसे वह सब कुछ मिला है जिसके आधार पर वह आज कुछ बनाता है। यही नहीं, वह स्वयं जो कुछ भी है वह भी उसी 'सब' का नतीजा है जो उसे सदियों या हज़ारों साल की आदमी की मेहनत के फलस्वरूप विरासत में मिला है। हमारे यहाँ भारतीय परम्परा में इन ऋणों को पितृ ऋण, देव ऋण और गुरु ऋण के नाम से समझा गया है। कभी-कभी गुरु ऋण को ऋषि ऋण भी कहा गया है। पर ये सब नाम उन ऋणों को पूरी तरह नहीं बताते जिनके आयाम इससे कहीं अधिक हैं और जिनका पूरा आंकलन वास्तव में किया ही नहीं जा सकता।

लेकिन जो लोग इनकी चर्चा करते नहीं अघाते वे यह भूल जाते हैं कि जो कुछ भी हमें मिला है वह सब ठीक ही नहीं है, उसमें हज़ारों गलतियाँ हैं, सैकड़ों

कमज़ोरियाँ हैं और हमारी आज की मुसीबतें भी उन्हीं लोगों की दी हुई हैं जिनकी वजह से हम जो कुछ भी हैं वह हैं। पैतृक बीमारियों का सबको पता है, गुरुओं के अज्ञान के भी हम उतने ही उत्तराधिकारी हैं जितने उनके ज्ञान के, और अन्धविश्वास की कहानी तो इतनी लम्बी है कि उसका बयान करना मुश्किल है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति अन्याय, स्त्री-जाति के प्रति अत्याचार, शूद्र और अस्पृश्य कहे जाने वालों के प्रति व्यवहार की कथा सबको पता है, सीता और द्रौपदी की बात कौन नहीं जानता, और गार्गी के साथ याज्ञवल्क्य ने जो जनक की सभा में किया उसको कौन भुला सकता है? शम्बूक और एकलव्य की कथा को सुन कर किसका सिर शर्म से नहीं झुक जायेगा? ये कहानियाँ ऐसी हैं जो संसार की सब संस्कृतियों में मिलती हैं। जो आज 'मानवाधिकार' की बात करते हैं वे कुछ दिन पहले अफ़्रीका के जंगलों से आदमियों को जानवरों की तरह पकड़कर गुलामों के रूप में लाते थे, और उन्हें कम से कम उस समय कोई शर्म नहीं आती थी। यही नहीं, केंट और हेगेल जैसे दार्शनिकों के देश में यहूदियों के साथ जो हिटलर ने किया वह कल्पना से बाहर की बात है, और अगर हम यह याद रखें कि जर्मनी उस समय का सबसे बड़ा वैज्ञानिक देश था तो हमें और भी अचम्भा हुए बिना नहीं रहेगा।

कहानी पुरानी है, दास्तान लम्बी है। ये थोड़ी सी मिसालें सिर्फ इसलिए दी हैं कि हम परम्परा के प्रति इतने श्रद्धावनत न हो जायें कि यह मान बैठें कि उसने जो कुछ दिया है, वह सब कुछ ठीक है। गुरुओं के प्रति, माता-पिता के प्रति, ऋषियों के प्रति श्रद्धा तो होनी चाहिए पर अपनी अक्ल बेचकर नहीं। मनुष्य को आख़िर अपनी अक्ल, अपने अनुभव के निकष पर ही देखनी-जाँचनी होगी और जो कुछ भी उसे मिला है उसमें अगर उसे कोई ग़लती दिखाई दे, कोई कमी दिखाई दे तो उसकी ओर ध्यान दिलाना उसका कर्त्तव्य है और उसका परिष्कार करना उसका उत्तरदायित्व।

पारस्परिक, अन्योन्याश्रित कर्म के द्वारा रचित इस संसार का मूल केन्द्रबिन्दु कहाँ है और इसका संचालन कैसे होता है, इस प्रश्न का उत्तर जब तक हम नहीं ढूँढ़ेंगे तब तक हम इस संसार के मर्म को मुश्किल से ही समझ पायेंगे। 'समझना' और 'करना' ये ज़िन्दगी के दो ऐसे पहलू हैं जिनका आपसी सम्बन्ध बहुत गहरा है। इनमें एक को दूसरे के बग़ैर समझा ही नहीं जा सकता। मनुष्य की चेतना में 'कर्म' ज्ञान पर आश्रित है और ज्ञान कर्म पर, और ये दोनों उस भावजगत् में आश्रित हैं जिसकी चर्चा दर्शन में तो कम ही होती है।

रहते तो हम सब भाव-जगत् में ही हैं, लेकिन इस भाव-जगत् को समझते बिल्कुल ही ग़लत तरीके से हैं। भाव के केवल दो पहलुओं की ही चर्चा होती है, और वे हैं सुख और दुःख। सारे विश्व का चिन्तन इन्हीं को लेकर हुआ है, जैसे और कुछ हो ही नहीं। कितनी आसानी से हम यह भूल जाते हैं कि सुख-दुःख तो

जो भी प्राणवान् है वह महसूस करता ही है और किसी न किसी तरीके से वह जो करता है वह इनसे प्रभावित और परिचालित दोनों होता है। पर ये कर्म के आनुषंगिक पक्ष हैं, उसके न साध्य हैं न ध्येय। साध्य और ध्येय तो कुछ और होता है जिसको बताना मुश्किल है। चिड़िया घोंसला बनाती है, एक-एक तिनका चुन कर किसके सुख-दुःख के लिए? मनुष्य की बात लें तो उसके कर्म की दशा और भी उलझी जान पड़ती है। जन्म से पहले ही उसके संस्कार की चिन्ता होती है, और आने वाले बालक के लिए कौन क्या-क्या नहीं करता? हर घर में बालक के जन्म के साथ ही कितनी बातें की जाती हैं, उनसे किसका सुख-दुःख बनता बिगड़ता है? पढ़ाई को लें तो उससे ज्यादा मुसीबत की बात और कौन होगी? हर बच्चा जानता है, और उसके माता-पिता भी, कि न वह पढ़ना चाहता है न वे पढ़ाना। पर तब भी पढ़ना-पढ़ाना, सीखना-सिखाना सबको करना पड़ता है। कभी प्यार से, कभी मारपीट कर, और धीरे-धीरे उसमें मज़ा आने लगता है। यही बात हर जगह है। कर्म का लक्ष्य क्या है, यह किसी को पता नहीं होता, क्योंकि जीवन के लक्ष्य का ही जब पता नहीं है तो कर्म के लक्ष्य का पता कैसे होगा? बहुत हद तक मनुष्य भी उसी तरह परिचालित होता है जैसे पशु-पक्षी या कोई और प्राणी। जन्म से मृत्यु तक का 'वक्र चक्र' उसकी अनसुनी करके चलता रहता है। सुबह शाम होती हैं, और आप चाहें न चाहें आपकी उम्र बढ़ती है, आपको पूछे बग़ैर। कहने का अर्थ यह है कि ज़िन्दगी को समझना उस सबको पूर्वमान्य करके चलता है जिसको न आप जान सकते हैं न नकार सकते हैं। बुद्धि- अक्ल कुछ पकड़ने की कोशिश करती है, लेकिन जिसको पकड़ना चाहती है वह हमेशा पकड़ के बाहर ही रहता है।

अब सवाल यह है कि अगर बात ऐसी है तो फिर उस समझने-समझाने का क्या फायदा जिसे हम 'फलसफा' कहते हैं? शुरू से ही यह सवाल भारतीय दर्शन में उठाया गया है, और कुछ हद तक दूसरी दार्शनिक परम्पराओं में भी उठाया गया है और इसका एक सीधा-साधा उत्तर यह दिया गया है कि अक्ल का काम सिर्फ उन सब ग़लतफहमियों को दूर करना है जो आदमी के रास्ते में रुकावट पैदा करती हैं, उसको ग़लत रास्तों पर ले जाती हैं, और जो सब खुद अक्ल ने ही पैदा की हैं। दर्शन का काम दर्शन से उत्पन्न भ्रान्तियों से मनुष्य को बचाना है। वास्तव में तो मनुष्य का लक्ष्य वह है जो न बुद्धि के द्वारा उसे पता लग सकता है और न उसके द्वारा प्राप्त हो सकता है। लेकिन अक्ल कम से कम उसमें वह संशय पैदा कर सकती है जिससे वह उस रास्ते पर चलने के पहले ही हज़ार सवाल उसके बारे में कर बैठे और यह ज़िद करे कि जब तक सवालों का सही-सही जवाब उसे नहीं मिलेगा तब तक वह चलना ही शुरू नहीं करेगा। आख़िर सुख-दुःख की बात, आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति की बात, मोक्ष-निर्वाण की बात, परा-अपरा की बात कोई सीधा-साधा आदमी, जो ज़िन्दगी जीता है,

काम करता है, परिवार चलाता है, वह तो नहीं करता। ऐसा लगता है कि दर्शन की दुकान और उसका व्यापार दार्शनिकों ने खुद चलाया है और आपस में बैठकर ऐसी चर्चा चलायी है जिसका कम से कम अढ़ाई-तीन हज़ार सालों का इतिहास है। इससे अभी तक उनको ही संतोष हुआ होगा, साधारण आदमी को तो अभी तक कुछ मिला प्रतीत नहीं होता।

फिर कोई पूछे कि हमें आज यह कैसे भ्रम हो गया कि हम भी इस भ्रम को हटाने की दिशा में कुछ कर पायेंगे? वैसे दर्शन के इतिहास में यह भ्रम बार-बार हुआ है। कांट को भी यह भ्रम हुआ था और अभी हाल ही में जिन्हें लॉजिकल पॉज़िटिविस्ट कहा जाता है उनको भी। विट्गेन्स्टाइन का नाम इस संदर्भ में सबको विदित है। अब अगर ऐसा भ्रम हुआ है तो हमारे साथ भी ऐसा होना कोई नयी बात नहीं है। आख़िर बीमारियाँ हमेशा रहती हैं और डॉक्टर भी। बुद्ध को 'महाभिषज' कहा गया है और हर पैगम्बर ने भी अपने को ऐसा ही माना है। मनुष्य किसी असाध्य रोग से ग्रसित है ऐसा हर सोचने वाले ने सोचा है। पर अगर रोग असाध्य है तो उसके इलाज की तलाश करना व्यर्थ है, अगर वास्तव में कोई 'मूल अविद्या' है तो न उसका निदान हो सकता है न उपचार। और अगर उपचार या निदान हो सकता है तो न वह वास्तव में असाध्य है न उसको मनुष्य के मूल में ही माना जा सकता है। अगर थोड़ा उलट कर या पीछे मुड़ कर देखें तो ऐसा लगेगा कि उस तरह की बात करना जैसी अब तक की गयी थी, उसमें ही कोई ऐसी ग़लती छिपी है जिसको जब तक हम नहीं समझ पायेंगे तब तक विचार में आगे बढ़ना मुश्किल होगा, और अगर विचार में आगे न बढ़ पायेंगे तो न कर्म में आगे बढ़ेंगे न ज्ञान में और न उस भाव जगत् को समझेंगे जिसमें हम रहते हैं।

ग़लती अगर कोई है तो शायद इसी में है कि कोई ऐसा मूल है जिसके आगे या जिसके पीछे जाया ही नहीं जा सकता, या हम किसी ऐसे जाल या तन्त्र से बँधे हैं जिससे छुटकारा हो ही नहीं सकता। इससे भी गहरी ग़लती शायद यह है कि कोई ऐसी दृष्टि या अवस्था है जिसमें कोई अपना गुण नहीं होता, केवल दोष ही दोष होता है। अगर ऐसा मानकर चलें कि पीछे की ओर भी उतनी ही अनन्तता है जितनी कि आगे की ओर, और उसके साथ यह भी मानकर चलें कि हर चेतना की स्थिति के अपने स्वर्ग-नरक हैं या अपनी संभावनायें हैं जिनके आधार पर आदमी स्वयं अपने जगत् की रचना करता है जिसमें अच्छा-बुरा दोनों होते हैं और इस अच्छे-बुरे की कोई सीमा नहीं है, तो शायद विचार और जीवन दोनों को कोई नई दिशा मिल सकेगी।

अपने यहाँ परम्परा में इस बात को तो माना गया है कि 'अविद्या' अनादि है पर यह नहीं माना गया है कि वह अनन्त है। दूसरी ओर उन्होंने यह तो 'देखा' है कि उस 'अविद्या' के अनगिनत आयाम हैं, और वही अनेक लोक रचती है जिनके सुख-दु:ख ही अलग-अलग नहीं होते बल्कि जिनके शिव-अशिव,

शुभ-अशुभ, सुन्दर-असुन्दर भी अलग-अलग होते हैं। व्यवहार-जगत् की बात कही गयी है, पर व्यवहार के तो स्वयं अनेक क्षेत्र हैं जिनके अपने अलग-अलग मूल्योन्मुख आदर्श हैं और जिनकी साधना अपने-आप में उतनी ही अनन्त है जितनी किसी और चीज़ की।

अगर हम अविद्या की बात करना छोड़ दें और अनादि और अनन्त दोनों को स्वीकार कर लें और मनुष्य की स्थिति को इस प्रकार देखें कि उसके जितने भी आयाम हैं वे सब एक अलग-अलग विश्व की रचना करते हैं जिनमें से प्रत्येक में अच्छा-बुरा दोनों होते हैं और जिसकी अपनी संभावनाएँ, ज्ञान, कर्म और भाव के क्षेत्र असंख्य हैं, तो शायद एक नयी दृष्टि उत्पन्न हो सकेगी। इसके साथ ही अगर ऐसा भी सोचें कि व्यक्ति वास्तव में कोई अपने में अकेला साधक नहीं है बल्कि मिलजुल कर दूसरों के साथ, दूसरों के सहारे साधना करता है, तो 'यज्ञ' की बात को कुछ नयी तरह से शायद समझा जा सकेगा। यज्ञ मिलकर होता है और उसके कर्म का फल खाली यजमान को ही नहीं बल्कि सबमें मिलकर ही बँटता है या बँटना चाहिए। और यज्ञ कोई केवल एक तरह का ही नहीं होता, हर क्षेत्र का अपना यज्ञ होता है, और अगर यह भी याद रखें कि ऋषि लोग भी यज्ञ करते थे और राक्षस भी, तो शायद मनुष्य की अवस्था को समझने में अधिक सहायता मिलेगी।

हमारी परम्परा में यह कहा गया है कि राजा प्रजा के पाप-पुण्य का भागी होता है, क्योंकि अगर राजा अच्छा होता है तो प्रजा आसानी से पुण्य कार्य कर सकती है और अगर राजा बुरा होता है तो अधर्म करना आसान होता है और धर्म-पालन मुश्किल। इस विचार को अगर गहराई से समझें और उसको ज्ञान-कर्म-भाव में रूपायित और अवतरित करने की चेष्टा करें तो उस दृष्टि को समझ पायेंगे जो वेदों में **''ॐ सह नाववतु सह नो भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै, तेजस्विनाव-धीतमस्तु मा विद्विषामहै''** के रूप में मिलती है, जिसका केन्द्र-बिन्दु 'सह' है, शुद्ध या केवली आत्मा नहीं।

'आत्म' में या 'आत्म' से 'सह' भावना कैसे लुप्त हो गयी और उपनिषदों को केवल आत्मकेन्द्रित विचार के रूप में कैसे समझा गया, इस कहानी की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया है। इतना बड़ा 'अन्याय' और वह भी हज़ारों साल तक कैसे हो पाया यह समझना मुश्किल है। शायद इसका उत्तर यही है कि मनुष्य आत्म-चेतन प्राणी है और इसलिए उसका चिन्तन सहज रूप में आत्मकेन्द्रित होता है। आख़िर पश्चिमी परम्परा में भी दार्शनिक विचार आत्मकेन्द्रित ही रहा है। देकार्त की बात सब जानते हैं, पर यूनान में भी जहाँ मनुष्य को मूल रूप में सामाजिक या राजनीतिक प्राणी के रूप में देखा या समझा गया था, वहाँ भी तत्त्व की दृष्टि से मनुष्य पर विचार 'स्व'केन्द्रित ही था। जिस प्रकार अपने यहाँ 'आत्मानं विद्धि' की बात की गयी है उसी प्रकार वहाँ 'नो दाइसेल्फ' की बात

कही गई है। पर आदमी की मुसीबत यह है कि उसे 'अपने' को जानने के लिए विश्व को जानना पड़ता है, देश और काल को, और उन सब मनुष्यों और प्राणियों को जिनसे उसका गहरा सम्बन्ध है। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर को समझे बग़ैर मनुष्य को नहीं समझा जा सकता। यही नहीं, मनुष्य में जो मूल्योन्मुखी या आदर्शोन्मुखी चेतना है, उसको समझे बग़ैर मनुष्य को समझा ही नहीं जा सकता। आख़िर मनुष्य है क्या? वह कुछ भी हो, कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि उसे न अपने से संतोष है, न जगत् से और न ईश्वर से। उसे कुछ भी पसन्द नहीं आता। उसकी अपनी सृष्टि हो या भगवान की सृष्टि, उसे सब में दोष ही दोष नज़र आते हैं और अगर उसकी कोई सतत् साधना है या कोई कभी भी न खत्म होने वाला पुरुषार्थ है, तो वह यही है कि इन 'दोषों' को कैसे कम करे, कैसे हटाये, जगत् को कैसे रुचिकर बनाये, अपने को कैसे अधिक अच्छा बनाये। इसी में उसकी सारी ज़िन्दगी बीतती दिखाई देती है और वह यह भी जानता है कि इस चिरन्तन और सतत् पुरुषार्थ-साधना में जब तक 'दूसरे' उसका सहयोग नहीं करेंगे तब तक वह उसमें ज़रा सा भी सफल नहीं हो पायेगा। इससे भी गहरे स्तर पर उसे इसका भी सदैव आभास होता है कि जो उससे स्वतंत्र विश्व है या 'कुछ' है वह जब तक उसे ऐसा नहीं करने देगा तब तक वह कुछ भी नहीं कर पायेगा।

मनुष्य के दार्शनिक चिन्तन की मूलभूत समस्या उसकी चेतना की इसी स्थिति से उद्भूत होती प्रतीत होती है। वह जब सोचता है तो ऐसे ही सोचने को बाध्य होता है। आख़िर दर्द तो मुझे ही होता है, अनुभव भी मुझे ही, ज्ञान भी मुझे ही, और ग़लती करता हूँ तो भी मैं ही करता हूँ और उसका उत्तरदायित्व भी मुझे ही दिया जाता है और मुझे ही भोगना पड़ता है। अगर यह बात ठीक है, और इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता, तो आत्मकेन्द्रित चिन्तन या स्वकेन्द्रित चिन्तन को 'दोषी' क्यों ठहराया जाये? आख़िर मोक्ष भी तो उसी का होता है जो मोक्ष की साधना करता है! बुद्ध को निर्वाण हुआ होगा, उससे मुझे क्या? और महावीर को कैवल्य-पद प्राप्त हुआ या 'सर्वज्ञता' मिली, तो मुझे क्या? न मुझे निर्वाण प्राप्त है न सर्वज्ञता। और क्या सब मुझसे यह नहीं कहते कि तुमने साधना नहीं की इसलिए तुम्हें यह सब कैसे प्राप्त हो सकता है? इम्तिहान मुझे देना है, पास-फेल मुझे होना है तो फिर मेरा चिन्तन और मेरा व्यवहार स्वकेन्द्रित क्यों न हो?

इसका उत्तर देना कठिन है, क्योंकि बात सीधी-साधी है और सबके अपने अनुभव की है। लेकिन विचार ही इसको ग़लत ठहराता है और कहता है कि आख़िर जगत् नहीं हो तो तुम कैसे होगे? पंच महाभूत से शरीर बना है, माता-पिता की देन है, शरीर के होने के लिए अन्न की आवश्यकता है, प्राण के लिए वायु की, मन के लिए जगत् की उन सब वस्तुओं की जो सुख-दुःख देती हैं, स्वप्न जगाती हैं, लालसा उत्पन्न करती हैं। और बुद्धि के लिए क्या उस सब चिन्तन की आवश्यकता और अनिवार्यता नहीं है जो अनेकानेक मनीषियों ने

चिन्तन करके भाषा में आबद्ध किया है? और अगर बुद्धि के परे की बात भी लें, प्रज्ञा की, मनीषा की या किसी और की, तो उसकी भी अपनी परम्परा है; धारणा, ध्यान, समाधि, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, शील, जो कुछ भी है उनकी अपनी परम्परायें हैं, अपने सम्प्रदाय हैं, अपने आचार्य और गुरु हैं जो दीक्षा देते हैं और यह कहते हैं कि ऐसा करोगे तो ऐसा पाओगे। कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जहाँ मनुष्य को 'दूसरों' से सीखना नहीं पड़ता। बालक होने का अर्थ ही यह है, विद्यार्थी होने का भी अर्थ यही होता है। वैसे जब तक मनुष्य जीवित रहता है उसको यह पता लगता रहता है कि उसे 'सीखने' की ज़रूरत है और सीखा दूसरों से ही जा सकता है। और, अगर जन्म की बात है तो मृत्यु की बात भी होगी, और मृत्यु की बात सोचते ही आत्म-केन्द्रित विचार विचलित हो जाता है, उसकी समझ में ही नहीं आता कि आख़िर 'उसकी' मृत्यु कैसे हो सकती है! मृत्यु से बड़ा आत्मव्याघाती प्रत्यय उसे दिखाई ही नहीं देता। पर, फिर वह जन्म की बात कैसे मान सकता है? वह यह कैसे स्वीकार कर लेता है कि उसका कभी 'जन्म' हुआ था? जन्म होने पर सब खुशियाँ मनाते हैं-वे भी जो जन्म और मृत्यु को सत्य नहीं मानते। चिन्तन की यह विड़म्बना शुरू से ही रही है, और आज भी है। वास्तव में यह उसके स्वरूप में ही अन्तर्निहित है और इसीलिए इससे उसका छुटकारा पाना असंभव नहीं तो मुश्किल ज़रूर है। कांट जैसे महान् चिन्तक को भी इसी परेशानी का सामना करना पड़ा था। एक ओर वह इस बात को पूरी तरह मानता था कि 'ज्ञान' उन कोटियों में आबद्ध है जो उसके स्वरूप को निर्धारित करती हैं, क्योंकि 'जानने' का अर्थ ही यह होता है कि उन कोटियों के द्वारा जानना। दूसरी ओर उसका यह भी दावा था कि ज्ञान के स्वरूप का जो रूप है, जिन कोटियों से निर्मित या निर्धारित होता है, उसका उसे पूर्ण रूप से ज्ञान है। यही नहीं, उसने तो यह भी दिखाने की कोशिश की कि इन कोटियों के अलावा कोई और कोटियाँ हो ही नहीं सकतीं। मनुष्य के ज्ञान का केवल यही स्वरूप है, और इसके अलावा कोई अन्य स्वरूप हो ही नहीं सकता। उसने यह नहीं सोचा कि मनुष्य की चेतना में यह सम्भावना कैसे निहित है कि वह यह जान सकती है कि उसके जानने की प्रक्रिया का 'स्वरूप' ऐसा है कि वह इन कोटियों से निर्मित है। दूसरे शब्दों में कहें तो, उसने अपने से यह नहीं पूछा कि उसके स्वयं चिन्तन की संभावना कैसे हुई और अगर वह वास्तव में हुई तो उसकी पूर्वमान्यता क्या थी। उसने यह प्रश्न नहीं उठाया कि स्वयं उसका मीमांसा कर्म (क्रिटिकल एक्टिविटी) संभव कैसे हो सकता है? इस कर्म की पूर्वमान्यता क्या है? और यदि यह वास्तव है तो क्या **क्रिटीक् आफ प्योर रीज़न** में जिस मीमांसा--कर्म का संपादन किया गया है वह स्वयं भी क्या उन कोटियों से निर्मित होता है जो अंडरस्टेंडिंग में प्रयुक्त होती हैं? दूसरे शब्दों में, अतिक्रामी मीमांसा (ट्रांसेंडेंटल क्रिटीक्) संभव कैसे हो सकती है?

अगर कांट यह सवाल पूछता तो उसे ज्ञान के मूल में भी वही स्वातंत्र्य दिखाई देता जो उसने नैतिक कर्म, या कहें धर्म के मूल में देखा था। अगर मनुष्य की चेतना अपनी ज्ञान-सम्बन्धी प्रक्रिया में कोटियों से वास्तव में आबद्ध होती तो वह उन कोटियों को जान ही नहीं सकती थी। अब, जो बात कांट के सम्बन्ध में ठीक है, वही एक दूसरी तरह से उस सब चिन्तन के बारे में भी ठीक है जिसका मूल उस भावना में है जो यह मान कर चलती है कि केवल 'मैं' ही हूँ और बाकी सब 'विषय' मात्र हैं। इस चेतना की संभावना पर सोचने से मनुष्य को यह ज्ञात होगा कि यह बात तभी सच हो सकती है जब कोई अन्य हो, और वह अन्य भी उसी प्रकार की चेतना रखता हो जैसा कि वह स्वयं रखता है।

अगर जिसे मैं ज्ञान के संदर्भ में 'विषय' रूप में देखता हूँ वह नहीं हो तो फिर ज्ञान कैसे हो सकता है? और 'ज्ञान' नहीं है तो ज्ञाता कहाँ होगा? ज्ञाता होने के लिए ज्ञेय उतना ही आवश्यक है जितना कि ज्ञेय के लिए ज्ञाता होना। कितनी अजीब बात है कि ज्ञान के संदर्भ में दोनों मान्यताएँ उतनी ही सहज रूप से सत्य प्रतीत होती हैं जिन्हें दार्शनिकों ने साधारणत: अमान्य माना है। ज्ञेय या विषय अपने को ज्ञाता से उतना ही स्वतंत्र बताता है जितना कि दार्शनिक ज्ञाता को ज्ञेय से स्वतंत्र मानते हैं। पर अगर यह मान भी लें कि दोनों अपने-आप में एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं, यानि दोनों में से किसी को एक-दूसरे की ज़रूरत नहीं है, तो भी यह तो मानना पड़ेगा कि दोनों में यह संभावना निहित है कि वे एक-दूसरे से सम्बन्धित हो सकते हैं। 'जानने' का मतलब यही है, यह नहीं कि चौबीस घण्टे एक-दूसरे को जानते रहें। बेचारे अद्वैतियों को लगता है इसी ड़र ने सताया था कि चेतना में किसी को 'विषय' रूप में जानने की संभावना को भी स्वीकार कर लिया जाये तो वह बेचारी सदैव ही विषयग्रस्त हो जायेगी, उससे कभी भी उसे छुट्टी नहीं मिलेगी। उनके शब्दों में कहें तो, वह कभी भी 'विषय' से, या 'अन्य' से मुक्त नहीं हो पायेगी।

ज्ञान के संदर्भ में एक बात और है जो ऐसा लगता है कि अधिकतर दार्शनिकों को कभी भी याद नहीं आती, और वह यह है कि विषय भी ज्ञाता हो सकता है और ज्ञाता स्वयं किसी अन्य के ज्ञान का विषय बन सकता है। और अगर यह बात सच है तो ज्ञाता होना कोई इतनी बड़ी बात नहीं है और विषय रूप में जाना जाना उतनी घटिया बात नहीं है जितना दार्शनिक मानकर चलते हैं। आख़िर किसी ने हमारी तरफ देखा तो उससे हमारा क्या घट गया और अगर देखकर तारीफ की तो हमको अच्छा ही लगेगा, फिर चाहे हम दार्शनिक ही क्यों न हों! संत हों या दार्शनिक, अद्वैती हों या कुछ और, अपनी तारीफ सबको अच्छी लगती है, भगवान को भी। इसीलिए शायद हज़ारों स्तोत्र लिखे गये हैं, विष्णु सहस्त्रनाम का पाठ होता है, शिवसहस्त्रनाम का जप होता है। इन बातों पर दार्शनिक लोग ध्यान नहीं देते क्योंकि इनकी ओर ध्यान देना या इनकी चर्चा

करना 'अदार्शनिक' समझा जाता है। ज्ञान की बात छोड़ दें और उसकी बात करें जिसमें सब लोग 'जीते' हैं, और जो चेतना का सहज लक्षण है, शायद व्यावर्तक लक्षण भी। जो अचेतन है या जड़ है उसका लक्षण यह नहीं हो सकता कि वह जानता नहीं है, बल्कि यह है कि उसे सुख-दु:ख की प्रतीति नहीं होती, उसमें इच्छा नहीं होती, उसमें प्रेम नहीं जागता, वह कुछ करना नहीं चाहता। इन बातों को कुछ और तरह से भी कहा जा सकता है, लेकिन उनके द्वारा जिस बात को कहने की चेष्टा की जा रही है वही चेतना का व्यावर्तक लक्षण है, और अगर इस व्यावर्तक लक्षण की ओर ध्यान दें तो इसमें 'अन्य' अनिवार्य रूप से उपस्थित है। यह लक्षण चेतना के उस सम्बन्ध को बताता है जो अनिवार्य रूप से किसी दूसरी चेतना को स्वतंत्र सत्ता के रूप में मानकर चलती है।

चेतना का अर्थ ही यह है कि वह अनेक अन्य चेतनाओं के बीच में अवस्थित है, उनसे सम्बन्धित है और सम्बन्ध के सहारे ही वह अवस्थित है। परन्तु ये सम्बन्ध स्वयं में कोई जड़ सम्बन्ध नहीं हैं, गणित के जैसे सम्बन्ध नहीं हैं, प्राणवान् सम्बन्ध हैं और इसीलिए इस सम्बन्ध को उस प्रकार नहीं समझा जा सकता जैसे विज्ञान जड़ पदार्थों के बीच सम्बन्धों को समझने की कोशिश करता है।

चेतना स्वयं अनेक प्रकार की होती है, उसके अनेक रूप हैं। अगर अपने चारों तरफ देखें, पशु-पक्षियों की बात छोड़ भी दें, मानव-जगत् में ही इतना वैविध्य दिखाई देता है कि उनको एक ही प्रकार से चेतन मानना उनके वैशिष्ट्य के साथ अन्याय करना होगा। किसी संत से मिलिये तो क्या ऐसा नहीं लगता कि वह किसी और तरह का प्राणी है, आप जैसा नहीं! ऐसा साधारण मनुष्य के साथ भी हो सकता है। आप उससे मिलते हैं तो वह एकदम ऐसा लगता है कि यह आदमी कुछ खास है, कुछ अन्य प्रकार का है, मेरे से कहीं अधिक 'ऊँचा'।

ऐसे अनुभव साधारण हैं, हरेक को होते हैं, पर इनकी ओर हम ध्यान नहीं देते। कहने का आशय यह है कि 'चेतना' एक ही प्रकार की नहीं होती, और चेतनाओं में सम्बन्ध इस 'प्रकार-भेद' से ही बनते और बिगड़ते हैं। इसी की बात परम्परा ने एक अन्य संदर्भ में 'अधिकार-भेद' के नाम से कहने की कोशिश की है। पर, अधिकार-भेद वास्तव में मनुष्यों में कोटि-भेद को उत्पन्न करता है और कुछ ऊँचे-नीचे होने का आभास देता है। यही नहीं, वह एक अन्य भ्रम भी उत्पन्न करता है जो वास्तव में मनुष्य और मनुष्य के बीच सम्बन्ध पर मूल आघात करता है। वह कुछ ऐसा कहने की कोशिश करता है कि मनुष्यों के बीच कोई ऐसा मूलभूत भेद है जो एक को बड़ा या ऊँचा और दूसरे को छोटा या नीचा बनाता है। यही शायद वर्ण-व्यवस्था के मूल में रहा है और इसी ने भारतीय समाज में उस 'भेद' को जन्म दिया है जिसको लेकर आज सब चिन्तित हैं और जिसके कारण ही ऐसा प्रतीत होता है कि सारा समाज जाति-भेद को चाहने पर भी भुला नहीं सकता।

अधिकार-भेद का अर्थ कुछ और भी है, पर साधारण समझ में उसे इसी प्रकार लिया गया है। दो बातें इस प्रकार को समझने में भुला दी गयी हैं। एक यह है कि कोई भी व्यक्ति प्रत्येक आयाम में दूसरे से बड़ा या छोटा नहीं होता, हरेक का अपना कर्म-कौशल होता है जिसमें वह दूसरों को कुछ सिखा सकता है। और अगर हम मनुष्यों को इस 'सीखने-सिखाने' के संदर्भ में देखें तो हरेक दूसरे से हमेशा कुछ न कुछ सीख सकता है और इस प्रकार देखने पर मनुष्यों के बीच का सम्बन्ध उस प्रकार का रह ही नहीं सकता जहाँ एक व्यक्ति दूसरे को इस तरह से देखे कि वह हर प्रकार से उससे छोटा या नीचा है।

लेकिन इससे भी गहरी ग़लती उस दृष्टि में यह है कि वह यह भूलकर चलती है कि जो कुछ भी है उसका उस परम सत् से सीधा सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध में न कोई पास है न कोई दूर, न कोई छोटा है न कोई बड़ा, उस 'सत्' के लिए सब समान हैं। 'भेद' की बात व्यवहार-जगत् में होती है, परमार्थ जगत् में नहीं-परमार्थ जगत् में उस भेद को उस प्रकार से लाना है जैसा वह व्यवहार-जगत् में अनिवार्य रूप से उपस्थित है। यह इतनी बड़ी ग़लती है कि इसके लिए किसी प्रायश्चित की भी व्यवस्था नहीं हो सकती।

व्यवहार और परमार्थ का भेद भारतीय परम्परा के मूल में अवस्थित है, लेकिन उसने शायद इस भेद को ठीक तरह नहीं समझा। पहली बात तो यह है कि व्यवहार-जगत् में स्वयं अनन्त भेद हैं। दूसरी ओर परमार्थ-जगत् में भी भेद कम प्रतीत नहीं होते। इसके अलावा परमार्थ और व्यवहार के सम्बन्ध के बारे में कोई निश्चित बात कहना असंभव है, क्योंकि वह सम्बन्ध ईश्वर और जगत् के बीच का सम्बन्ध है, या जो त्रिकालातीत है उसका काल से सम्बन्ध है, और इस सम्बन्ध को न बुद्धि समझ सकती है न कोई और शक्ति जो मनुष्य के पास है। पर इतना हरेक जानता है कि यह सम्बन्ध है, और इसके सहारे ही और सब सम्बन्ध खड़े हैं।

अगर इन सम्बन्धों के बारे में मनुष्य अपनी आत्मचेतना में यह दृष्टि कुछ हद तक आत्मसात् कर भी ले तो उसकी दृष्टि में, उसके व्यवहार में, उसके भाव-जगत् में जो परिवर्तन आयेगा उससे उसका सबसे सम्बन्ध अधिक सार्थक ही बनेगा क्योंकि तब उसके लिये अन्य अन्य नहीं रहेगा और स्वयं के बारे में वह आत्मचेतना नहीं रहेगी जिसने उसे जगत् से विच्छिन्न कर दिया है

> यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। **भगवद्गीता**, 6/30

❑

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्रोत (1)

भारतीय दर्शन और दार्शनिकता

भारतीय दर्शन पर अगर आप कोई भी किताब पढ़ेंगे तो अधिकतर आपको यही पढ़ने को मिलेगा कि भारत में दो तरह के दर्शन होते हैं—एक आस्तिक और दूसरे नास्तिक। 'आस्तिक' और 'नास्तिक' का यह प्रयोग बड़ा ही अजीब सा है, क्योंकि 'आस्तिक' का मतलब यहाँ इस बात से नहीं है कि वे ईश्वर में विश्वास करते हैं बल्कि इस बात से है कि वे वेद को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी तरह 'नास्तिक' का अर्थ यही होता है कि वे वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते, न कि यह कि वे ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन इसी कोटि में आते हैं तथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा पहली कोटि में रखे जाते हैं। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि भारतीय दर्शन की विशेषता यह है कि यह 'दर्शन' है न कि शुद्ध बौद्धिक विचार या विमर्श। क्योंकि जो सत्य है वह विचार का विषय न होकर साक्षात्कार का विषय है। कहने का मतलब यह है कि उसका हम उसी प्रकार अनुभव करते हैं जैसे कि इन्द्रियों से किसी प्रत्यक्ष विषय का, या कहें उससे भी अधिक निकट और आत्मीय या आत्म रूप में। कहा भी है कि भगवान 'गूँगे का गुड़ है'। जिस प्रकार गुड़ के स्वाद का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, उसे केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है, उसी प्रकार जो परम सत् है उसको भी अनुभव के द्वारा ही जाना जा सकता है, बुद्धि के द्वारा नहीं।

ये सब बातें करीब-करीब पहले ही कुछ पृष्ठों में कही जाती हैं, परन्तु उसके बाद जिस प्रकार से भारतीय दर्शन की चर्चा की जाती है उसका इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। असल में तो यह सवाल उठाया ही नहीं जाता कि आखिर दर्शन की इतनी लम्बी परम्परा इस देश में क्यों और कैसे बनी तथा उसमें इतने सम्प्रदाय किस प्रकार से हुए, और यदि बुद्धि की या तर्क की कोई स्थिति ही नहीं थी तो इतना खण्ड़न-मण्ड़न क्यों हुआ? यही नहीं, यह भी सोचने की बात है कि खाली नाम गिनाने से इन मत-मतान्तरों के 2000 साल से भी अधिक के इतिहास का लेखा-जोखा कैसे समझा जायेगा। आखिर न्याय-दर्शन अगर वही है जो